

हिंदी उपन्यासों में अभिव्यक्त आदिवासी जीवन-संघर्ष, वर्तमान परिवर्तन व चुनौतियाँ

मनोज कुमार

शोधार्थी पीएच.डी. (हिंदी), हरियाणा केन्द्रीय विश्वविद्यालय, जांट-पाली, महेंद्रगढ़, हरियाणा, भारत

सारांश

भारत एक बहुभाषी, बहुधर्मी तथा बहुसांस्कृतिक देश है, जहाँ अनेकों आदिवासी जनजातियाँ पाई जाती हैं। भारत की जनसंख्या में लगभग आठ प्रतिशत आदिवासी हैं। यह आँकड़ा पूरी तरह से विश्वनीय नहीं है, क्योंकि इसमें केवल वही आदिवासी समूह आते हैं, जिनके नाम भारतीय संविधान की 8वीं अनुसूची में शामिल हैं। सन् 2011 की जनगणना के अनुसार भारत की अनुसूचित जनजातियों की कुल जनसंख्या 8.6 करोड़ है। आदिवासियों को भारतीय संविधान में 'अनुसूचित जनजाति' (scheduled tribes) के नाम से संबोधित किया गया है। आदिवासी से अभिप्राय देश के मूल एवं प्राचीनतम निवासियों से है। आज हम जिस समाज में रहते हैं उस समाज में आज भी कुछ ऐसी आदिवासी जनजातियाँ हैं, जो मूलभूत आवश्यकताओं से वंचित हैं। आदिवासी जनजातियों का जीवन पूरी तरह से जंगल पर निर्भर है। उसे भी बाहरी (सभ्य समाज) लोगों ने हड़प लिया है। हजारों वर्षों से जंगलों में रह रही आदिम जनजातियाँ खुले मैदानों तथा सभ्यता के केन्द्रों में बसे लोगों (सभ्य समाज) से अधिक सम्पर्क स्थापित किए बिना ही अपने अस्तित्व को बनाए हुए हैं। अनेक समस्याओं को हिंदी उपन्यासकारों ने उकेरा है और इन्हें हाशिये से निकालकर हम भी मानव हैं, हमें भी उतना ही हक है जितना यहाँ के गावों में, नगरों में रह रहे मानवों को है का संदेश आदिवासियों एवं अभिजात जातियों, धर्मों के लोगों को दिया है। आदिवासी साहित्य पर जब हम विचार करते हैं तो निश्चित रूप से आदिवासी समुदायों में जगा 'आत्मभान' हमारा ध्यान खींचता है। आज भारतीय स्तर पर आदिवासी साहित्य की चर्चा शुरू है। अनेक भारतीय भाषाओं में आदिवासियों की जीवन समस्या, जीवन संघर्ष और शोषण को लेकर साहित्य लिखना आरंभ हुआ है। यह साहित्य आदिवासियों की 'जल-जमीन-जंगल' से खदेड़ने की त्रासदी को डंके की चोट पर व्यक्त कर रहा है। आदिवासी साहित्य स्पष्ट कर रहा है कि हम यहाँ के मूल निवासी हैं और आज हमें ही निर्वासित किया जा रहा है।

मुख्य शब्द: समकालीन, 21 वीं सदी, हिंदी उपन्यास, आदिवासी

प्रस्तावना

भारत एक बहुभाषिक एवं बहुसांस्कृतिक देश है। सदियों से भारतीय समाज में अनेक जाति, धर्म, वर्ण तथा संप्रदाय के लोग रहते आये हैं। भारत में अनेक आदिवासी समुदाय निवास करते हैं। ये आदिवासी समुदाय एक निश्चित भू-भाग में अपनी विशिष्ट बोली-बोलते हैं तथा संगठित रहते हैं। बहुत से आदिवासी जंगलों में पहाड़ों में और दुर्गम प्रदेशों में रहकर कबीलाई जीवन शैली अपनाए हुए हैं। सदियों से सभ्यता एवं संस्कृति से दूर होने के कारण ये पिछड़े हुए हैं। हिंदी उपन्यासकार स्पष्ट करते हैं कि आदिवासी यहाँ के मूल निवासी हैं, किंतु उन्हें उपेक्षितों का जीवन जीना पड़ रहा है। उन्हें हमारे यहाँ की समाज व्यवस्था ने हाशिये पर रखकर आज भी आदिम रूप में जंगलों में रहने के लिए बाध्य किया है। उन तक मूलभूत सुविधाओं को भी नहीं पहुँचने दिया गया। इसी संदर्भ में मैत्रेयी पुष्पा कहती हैं, "कभी-कभी सडकों, गलियों में घूमते या अखबारों की अपराध-सुर्खियों में दिखाई देनेवाले कंजर, साँसी, नट, मदारी, सँपे, पारदी, हाबूडे, बनजारे, बावरिया, कबूतरे न जाने कितनी जनजातियाँ हैं जो सभ्य समाज के हाशिये पर डेरा लगाए सदियों गुजार देती हैं -हमारा उनसे चौकना संबंध सिर्फ काम चलाऊ ही बना रहता है। उनके लिए हम हैं 'कज्जा' और 'दिकू' यानी सभ्य सभ्र्रांत 'परदेसी' उनका इस्तमाल करनेवाले शोषक, उनके अपराधों से डरते हुए मगर अपराधी बनाये रखने के आग्रही।" 1

हिंदी उपन्यासों में आदिवासी जीवन का आरंभ

हिंदी में आदिवासी जीवन पर उपन्यास लेखन की परंपरा बहुत पुरानी नहीं है। इसका आशय यह नहीं है कि हिंदी के आरंभिक उपन्यासों में आदिवासी समाज आया ही नहीं। यह सत्य है कि इन कृतियों में आदिवासी केन्द्र में नहीं हैं और यदि केन्द्र में हैं भी तो नायक नहीं। आदिवासी जीवन केन्द्रित उपन्यास किसी विशेष आदिवासी जाति के जीवन पर आधारित होता है। इसके आतिरिक्त आदिवासी जीवन केन्द्रित उपन्यासों का नायक अथवा नायिका अर्थात् मुख्य चरित्र

आदिवासी समुदाय का होता है। इस दृष्टि से अगर विचार करें तो आदिवासी जीवन को केन्द्रीय विषय बनाकर स्वाधीनतापूर्वक काल में उपन्यासों का आभाव नजर आता है। यह निश्चय ही स्वीकार किया जा सकता है कि आदिवासी समुदायों को लेकर उपन्यासों का लेखन स्वाधीनता प्राप्ति के बाद ही हुआ है। इससे पूर्व गिने-चुने उपन्यासों में किसी-किसी आदिवासी जन या समुदाय का जिक्र मात्र आता था। किंतु उपन्यास का मूल कथ्य आदिवासी जीवन केन्द्रित नहीं होता था। यह बात सर्वविदित है कि साहित्य की कोई भी प्रवृत्ति तत्काल अवतरित नहीं होती और न ही विकसित। उसके पीछे एक सुदीर्घ परम्परा कार्यरत रहती है, हिंदी उपन्यास की परम्परा जोकि सन् 1882 ई. में 'परीक्षा गुरु' से आरंभ मानी जाती है वह आज लगभग 135 वर्ष पुरानी हो चुकी है। इस दौरान हिंदी उपन्यास का क्षेत्र निरंतर विकसित हुआ है। आदिवासी विचारक रमेशचंद्र मीणा एवं स्व. प्रो. दिनेश्वर प्रसाद की मानें तो रामचीज सिंह वल्लभ द्वारा विचारित उपन्यास 'वन विहंगिनी' 1909 ई. में प्रकाशित हुआ था, 1930 में रामानंद शर्मा का आदिवासी विषयक उपन्यास 'कोरी कुमारी' प्रकाशित हुआ। किंतु प्रो.बी.के. कलासवा लिखते हैं, "आदिवासी जीवन संबंधी उपन्यास लिखने वालों में सबसे पहला नाम जगन्नाथ प्रसाद चतुर्वेदी का लिया जाता है, जिन्होंने सन् 1899 में 'बसंत मालती' उपन्यास लिखा जो मुंगेर जिले के मलपुर अंचल के मल्लाह आदिवासी जीवन पर आधारित है। मल्लाह जाति साम्प्रत युग में आदिवासी जाति के अंतर्गत स्थान प्राप्त लिए हुए है। उसके बाद अयोध्या सिंह उपाध्याय 'हरिऔध' की कृति 'अधखिला फूल' (1907) जो कहीं न कहीं आदिवासी जीवन के कुछ अंशों को लेकर लिखी गई रचना है। 3 ब्रजनंदन सहाय का उपन्यास 'अरण्यबाला' (1904) इसी श्रेणी का उपन्यास है, जिसमें विंध्याचल के पहाड़ी आदिवासी जीवन का खाका प्रस्तुत किया गया है। 'हरिऔध' कृत 'अधखिला फूल' (1907) संथाल आदिवासियों को केन्द्र में रखकर लिखा गया। उपन्यास उनके जीवन के विभिन्न पहलुओं को रेखांकित करता है। वृन्दावनलाल वर्मा द्वारा रचित उपन्यास 'कचनार' (1947) हिंदी साहित्य में आदिवासी जीवन को लेकर लिखे गए उपन्यासों में महत्वपूर्ण है।

वृन्दावनलाल वर्मा इस उपन्यास को सच्ची घटनाओं पर आधारित बतलाते हैं 'कचनार' उपन्यास की कथा मुख्य पात्र कचनार के आस-पास ही घूमती है। कचनार एक साधरण गोंड आदिवासी लड़की है। उपन्यास में अपने संघर्षों के माध्यम से कचनार आदिवासी समाज में स्त्रियों की सामाजिक एवं शारीरिक हैसियत का ज्ञान भी पाठक को कराती है, जहाँ लोग महिलाओं को उनकी शारीरिक बनावट के कारण कमजोर तथा हीन समझते हैं। आदिवासी जीवन पर उपन्यास लिखने के इन आरंभिक स्रोतों में कहीं लेश मात्र तो कहीं मुखरता से आदिवासी जीवन तथा संघर्ष को प्रस्तुत किया गया। इस प्रकार स्वतंत्रता पूर्व हिंदी उपन्यासों में आदिवासी जीवन की झलक हमें निम्नलिखित उपन्यासों में देखने को मिलती है: 'बसंत मालती'(1899) जगन्नाथ प्रसाद चतुर्वेदी, 'अरण्यबाला' (1904) ब्रजानंदन सहाय, 4 'रामलाल' (1904) मन्नन द्विवेदी, 5 'अधखिला फूल'(1907) अयोध्या प्रसाद हरिऔध, 'वन विहंगिनी'(1909) रामचीज सिंह बल्लभ, 'कोरी कुमारी'(1930) रामानंद शर्मा, 6 'कचनार'(1947) वृन्दावन लाल वर्मा इत्यादि प्रमुख हैं।

बीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध में लिखे गये जिन आदिवासी हिंदी उपन्यासों के नाम लिये जा सकते हैं, उनमें रथ के पहिए (देवेन्द्र सत्यार्थी), कब तक पुकारूँ (रांगेय राघव), सूरज किरण की छाँव (राजेन्द्र अवस्थी), जंगल के फूल (राजेन्द्र अवस्थी), जंगल के आस-पास (राकेश वत्स), शैलूष (शिवप्रसाद सिंह), धार (संजीव), गगन घटा घहरानी (मनमोहन पाठक), पाँव तले की दूब (संजीव), जहाँ बास फूलते हैं (श्री प्रकाश मिश्र), जंगल जहाँ शुरू होता है (संजीव), सावधान! नीचे आग है (संजीव) आदि प्रमुख हैं।

21 वीं सदी के हिंदी उपन्यासों में आदिवासी जीवन

21वीं सदी के इन उपन्यासों की इस परंपरा को आगे बढ़ानेवाले और आदिवासी शोषण के विरुद्ध आवाज बुलंद करनेवाले उपन्यास इक्कीसवीं सदी में लिखे गये हैं लिखे जा रहे हैं। इक्कीसवीं सदी के यह उपन्यास ग्लोबल गाँव के देवताओं, दिक्कू और कज्जाओं (उद्योजक, व्यापारी, पुलिस प्रशासक, राजनेता, पूँजीवादी) के शोषण को बड़ी संवेदनशीलता के साथ उजागर करते हैं। जोकि इस प्रकार हैं : अल्मा कबूतरी (2000) मैत्रेयी पुष्पा, काला पादरी (2002) तेजिन्द्र, पठार पर कोहरा (2003) राकेश कुमार सिंह, रेत (2007) भगवानदास मोरवाल, धूणी तपे तीर (2008) हरिराम मीणा, ग्लोबल गाँव के देवता (2009) रणेन्द्र, मरंगगोड़ा नीलकंठ हुआ (2012) महुआ माजी, गायब होता देश (2014) रणेंद्र, रेड जोन (2015) विनोद कुमार आदि प्रमुख हैं।

'अल्मा कबूतरी' (2000) नामक उपन्यास 'कबूतरा' जनजाति को आधार बनाकर लिखा गया है। यह उपन्यास अपराधी जनजाति अर्थात् 'क्रिमिनल ट्राइब्स' से संबंधित है। अपराधी जनजातियाँ न तो अरण्य जनजाति वर्ग में आती हैं और न ही सभ्य देहाती जनजाति वर्ग में। इनकी नियति एक त्रिशंकु समाज की है तथा कबूतरा आदिवासी आज भी समाज के वृत्त पर डेरा डालकर रहते हैं। कबूतरा जनजाति न केवल साहित्य से अछूती रही है अपितु अंग्रेजों के समय से ही उन्हें अपराधी घोषित करके उपेक्षित किया जाता रहा है। उपन्यास के संदर्भ में मैत्रेयी पुष्पा स्वयं लिखती हैं, "मैंने उस वर्ग को चुना जो मेहनत मशकत से जुड़ा है, जो धरती से, खेती से जुड़ा रहा है, जो मजदूरी और प्रकृति से जुड़ा हुआ है।.... मेरे उपन्यास में जो औरतें हैं, वे श्रम से जुड़ी हैं।"7 उपन्यास का प्रमुख चरित्र कदमबाई एवं अल्मा हैं, जिसे केंद्र में रखकर उपन्यास का ताना-बाना बुना गया है, अल्मा कबूतरी को केंद्र में रखकर कथ्य विकसित होता है। उपन्यास में 'कबूतरा' आदिवासियों में व्याप्त अंतर्विरोध, उनका जीवन संघर्ष एवं उनकी विस्थापन पीड़ा को संवेदनात्मक धरातल पर प्रस्तुत किया गया है।8 अल्मा किसी तरह शिक्षित होती है, किंतु शासकों के बीच फंस कर अपना सब कुछ खो देती है। फिर भी विरोध की आग उसकी आत्मा में जलती रहती है। वह उस समाज में घुलमिल कर विधानसभा तक पहुँच जाती है। इस तरह मैत्रेयी पुष्पा अल्मा के माध्यम से न केवल एक जनजाति, अपितु पूरे समाज के संघर्ष को पाठक के सामने रखती हैं। तेजिन्द्र कृत 'काला पादरी' (2002) मध्यप्रदेश की 'उराँव' जनजाति की समस्याओं को व्यक्त करनेवाला उपन्यास है। उपन्यासकार आदिवासियों का

उपनिवेशिक व्यवस्था में फंसे होने का वास्तव सामने रखता है। साथ ही आदिवासी भूख, अभाव, शोषण आदि से परेशान होकर ईसाई, हिन्दू, बौद्ध धर्म में दीक्षित होने के ऐतिहासिक वास्तव की ओर भी संकेत करता है। आदिवासियों के भूख, अभाव और दारिद्र्य को व्यक्त करता हुआ वह लिखता है, "साहब रात में बच्चा मर गया। उसकी माँ ने कई दिनों से कुछ खाया नहीं था। उसको गोद में लेकर उसकी माँ भी मर गयी। उसने भी कई दिनों से कुछ खाया नहीं था।"9 उपन्यास में भूख मिटाने के लिए जहरीली वनस्पतियाँ, बुटियाँ और बिल्लियों का मांस खाने का वास्तव सामने रखा, "वास्तव में 'काला पादरी' उपन्यास में भारत के सर्वाधिक उत्पीड़ित व उपेक्षित आदिवासियों की जीवन स्थितियों के अनेक पहलुओं को लेखक ने समाजशास्त्रीय दृष्टि, किन्तु साथ ही लेखकीय संवेदना से इस ढंग से चित्रित किया है कि भारतीय समाज की जटिलता भी उभरकर सामने आती है और साथ ही आदिवासियों के जीवन की पीड़ा का मार्मिक अंकन भी लेखक की कलम से होता चलता है।"10 उपन्यास में ईसाई मतों के प्रचार-प्रसार की ओर भी ध्यान खींचा है।

'पठार पर कोहरा' (2003) उपन्यास में राकेश कुमार सिंह ने झारखंड के 'मुंडा' आदिवासियों की करुण कथा कही है। राकेशकुमार सिंह ने आजादी के बाद भी आदिवासियों के जीवन समस्याओं का कोहरा न हटने की बात उपन्यास में की है। उपन्यास में साहू, बाबू और बंदकधारी संस्कृति की पोल खोल दी है, जो अंग्रेजों के झारखंड छोड़ने पर शोषण का काम रहे हैं। उपन्यास की शुरूआत ही इस प्रकार हुई है, "जंगल यहाँ से शुरू होता है/बहुत जहरीला होता है कौमनिष्ट दिक्कू...!./दीक्कू...यानी वह व्यक्ति जो जन्मना जंगल का वासी न हो/जो जंगल के बाहर का हो। गैर-आदिवासी हो। 'दीक्कू'.../यानी वह जो दिक्कत का कारण बने। दिक्कते पैदा करो.../बाघ, भालू, गीध, कौए और सियार से भी ज्यादा खतरनाक होता है दिक्कू और उसमें भी कौमनिष्ट।"11 उपन्यास में सरकारी योजनाओं के भ्रष्टाचार का भंडा-फोड़ किया है। राजीव गांधी की सरकारी योजनाओं के बारे में दस प्रतिशतवाली बात को उपन्यासकार आदिवासियों की योजनाओं में हो रहे भ्रष्टाचार के रूप में इस प्रकार व्यक्त करता है, "आजादी के बाद आदिवासियों की कल्याण की सैंकड़ों योजनाएँ बनी हैं पर उनके क्रियान्वयन का क्या हुआ? आर्बटित राशि का दस प्रतिशत भी देश के आदिवासियों तक नहीं पहुँच रहा है। कई योजनाएँ कागज पर चलती रहती हैं। कई योजनाएँ तो फाईलों की कन्न में ही दफन हो गयी... यदि अफसरशाही और राजनीति का यही तालमेल कायम रहा तो पता नहीं कितने समय तक आदिवासी समाज इसी तरह अपढ़, असंस्कृत, भूखा, नंगा, शोषित, उपेक्षित और लोकतंत्र के ज्ञान एवं विज्ञान से कटा रहेगा।"12 इस प्रकार प्रस्तुत उपन्यास में परेशानियों से घिरी एक लड़की की जद्दोजेहद भी है, नारी मुक्ति की आकांक्षा भी है और मुंडा जनजाति के शोषण, उत्पीड़न, अभाव, अन्याय-अत्याचार की वास्तविकताएँ भी हैं। यह उपन्यास केवल शोषण की बात ही नहीं करता तो शोषण के विरोध में आवाज भी उठाता है।

भगवानदास मोरवाल कृत 'रेत' (2007) उपन्यास हरियाना के 'कंजर' जनजाति के सामाजिक-सांस्कृतिक संरचनाओं को प्रस्तुत करता है। 'कंजर' अर्थात् काननचर याने जंगल में घूमनेवाले। यह कंजर अपने आप को 'माना गुरू' और 'माँ नलिन्या' की सन्तान मानता है। प्रस्तुत उपन्यास एक ओर आदिवासी विमर्श की कृति है, तो दूसरी ओर आदिवासी स्त्री विमर्श की भी कृति है। सामान्य तौर पर कंजरो को (जरायमपेशा) चोरी करनेवाली जनजाति समझा जाता है। अंग्रेज सरकार ने इन पर कई बंधन डाल दिये थे जिसे उपन्यासकार ने थानेदार केसर सिंह के माध्यम से कहलवाया है। केसर सिंह कबीले के मुखिया से कहता है, "यही की बिना इजाजत या इत्तिला दिए कोई कंजर गाँव छोड़कर नहीं जा सकता ...और जाता है तो मुखिया को इसकी जानकारी होनी चाहिए, जिसकी इत्तिला मुखिया को थाने में देनी होती है।"13 इनकी महिलाओं को भी थाने जाकर हाजरी देनी पड़ती है। घर के पुरुष जेल में या बाहर होने के कारण इन्हें मजबूरी वश वेश्या-व्यवसाय करना पड़ता है। इन्हीं बातों को उपन्यासकार ने बड़ी स्पष्टता से उपन्यास में रखा है। उपन्यास में कंजरो के पुलिसों, अफसरों, प्रशासकों द्वारा हो रहे शोषण को व्यक्त किया है। साथ ही यह उपन्यास यौन सुचिताओं की सभी सीमाएँ तोड़ देता है।

हरिराम मीणा कृत 'धूपी तपे तीर' (2009) 17 नवम्बर, 1913 के दिन घटित मानगढ (राजस्थान) की घटना पर आधारित है। इस घटना की ओर इतिहासकारों ने अनदेखा किया था। इस उपन्यास के माध्यम हरिराम मीणा ने 'भीलो'- 'मीनो' के ऐतिहासिक योगदान को उजागर करने की कोशिश की है। उपन्यास के केंद्र में हैं गोविंद गुरु का ऐतिहासिक योगदान। उपन्यास में उपन्यासकार ने स्पष्ट करने की कोशिश की है कि, कैसे गोविंद गुरु ने मीणों को संगठित किया, उनमें कैसी जागृति भर दी, उन्हें बलिदान के लिए कैसे तैयार किया। यही इस उपन्यास की कथावस्तु है। इस उपन्यास पर प्रकाश डालते हुए स्वयं उपन्यासकार लिखते हैं, "देश का पहला 'जालियांवाला काण्ड' अमृतसर (1999) से छः वर्ष पूर्व दक्षिणी राजस्थान के बासंवाडा जिला के मानगढ पर्वत पर घटित हो चुका था जिसमें जालियांवाला से चार गुणा शहादत हुई थी।" 14 इतिहास से उपेक्षित घटना को न्याय दिलाने की उपन्यासकार की कोशिश निश्चित रूप से स्तुत्य है।

रणेन्द्र का उपन्यास 'ग्लोबल गाँव के देवता' (2009) झारखंड के 'असुर' जनजातियों के शोषण, विस्थापन को उजागर करता है। आज वैश्वीकरण के इस युग में एक ओर हम विकास कर रहे हैं तो दूसरी ओर प्राकृतिक संसाधनों का अमर्याद उपयोग करके प्रकृति को दूषित कर रहे हैं। वहाँ के आदिवासियों, वनवासियों को उनके जंगलों से खदेड़े रहे हैं। इसी अमानवीय बातों को रणेन्द्र ने इस उपन्यास में अभिव्यक्त किया है। उपन्यास में असुर याने राक्षस, बड़े-बड़े दातों, सिंगोवाला कोई जीव इस संकल्पना को भी तोड़ा है। उपन्यास में वैश्वीकरण, औद्योगिकीकरण के कारण आदिवासी आदिवासियों पर हो रहे अन्याय-अत्याचार को भी व्यक्त किया है। उपन्यासकार लिखते हैं, "आकाशचारी देवताओं को जब अपने आकाशमार्ग से या सेटलाइट की आँखों से छत्तीसगढ़, उड़ीसा, मध्यप्रदेश, झारखंड आदि राज्यों की खानिज सम्पदा, जंगल और अन्य संसाधन दिखते हैं तो उन्हें लगता है कि राष्ट्र-राज्य तो वे ही हैं, तो हक तो उनका ही हुआ। सो इन खनिजों पर, जंगलों में, घूमते हुए लँगोट पहने असुर-बिरजिया, उर्राँव-मुंडा आदिवासी, दलित-सदान दिखते हैं तो उन्हें बहुत कोफन होती है। वे इन कीड़े-मकोड़ों से जल्द निजात पाना चाहते हैं।" 15 उपन्यास में ग्लोबल गाँव के देवताओं अर्थात् उद्योगपति (टाटा, वेदांग), पूँजीपति, पुलिस, व्यावसायिक, राजनेता, ठेकेदार आदि आकाशचारियों का समावेश है। जो आदिवासियों का इस वैश्वीकरण के युग में शोषण कर रहे हैं। उपन्यास में शोषण के साथ-साथ आदिवासी संस्कृति के बारे में भी जानकारी मिलती है। उनमें व्यास अंधविश्वास, विवाह पद्धति, स्त्री-पुरुष संबंध, पौराणिक मिथक, प्रकृति पूजा आदि अंग स्पष्ट रूप से उपन्यास में व्यक्त हुए हैं। विकास के आतंकवाद के कल और आज में रणेन्द्र फर्क करते हैं। उन्हें लगता है कि जब तक बड़े बांधों, कारखानों, खनन परिसरों के लिए आदिवासी इलाकों में जमीनें जबरिया छीनी जा रही थीं तो मुख्यधारा को कोई फर्क नहीं पड़ रहा था लेकिन आज तो रियल एस्टेट का दिल भी 'मोर-मोर' मांग रहा है। सरकारें स्पेशल इकोनॉमिक जोन के लिए जमीनें अधिगृहीत कर रही हैं और उसे रियल एस्टेट इकोनॉमिक जोन को हस्तांतरित कर रही हैं। न जाने कितने हजार बहुफसली सिंचित कृषि भूमि इस 'विकास के आतंकवाद' की अजगरी आंत में समा गई है और कितनी और निगली जानी बाकी हैं। अब जाकर मुख्यधारा को लघु-सीमांत किसानों का जीवन-आधार, भूख के विस्तार, खेत के जबरिया छीने जाने की पीड़ा की गहराई का अहसास हो रहा है। इन्हीं कारणों से आदिवासी इलाके का संकट और संघर्ष व्यापक समाज के संकट और संघर्ष का प्रतिनिधि बनता लगने लगा है।

महुआ माजी का 'मरंगोडा नीलकंठ हुआ' (2012) झारखंड के 'हो' आदिवासी जनजाति को केंद्र में रखकर लिखा गया उपन्यास है। इस उपन्यास में मुख्यतः अणु-परमाणु, नाभिकीय उर्जा के आदिवासी जीवन पर हो रहे दुष्परिणामों की ओर ध्यान खींचा है। रणेन्द्र ने इस कृति को वैज्ञानिक संस्थानों के गहन झूठ के खिलाफ हिंदी में लिखी पहली कृति माना है। यह अनेक गहन समस्याओं पर यह उपन्यास विचार-विमर्श करने के लिए प्रेरित करता है। आज विकास की अंधी होड़ में हम प्राकृतिक प्रदूषण तो कर ही रहे हैं साथ ही आदिवासियों के जीवन का विचार न करते हुए अणु-परमाणु एवं विकिरणयुक्त कचरे को आदिवासी इलाकों में ले जाकर डम्पिंग कर रहे हैं। जो आदिवासियों की पीढ़ियों को बरबाद कर रहा है।

महुआ माजी ने अपने इस उपन्यास के माध्यम से इस समस्या के विरोध में आवाज उठाई है।

'गायब होता देश' कथाकार रणेन्द्र का दूसरा उपन्यास है। यह उपन्यास उनके पहले उपन्यास 'ग्लोबल गाँव के देवता' की तरह विस्थापित होते, टूटते-बिखरते और लगातार गायब होते जा रहे आदिवासी समाज की समस्याओं की कहानी कहता है। इस उपन्यास के माध्यम से रणेन्द्र ने झारखंड की आदिवासी 'मुंडा' जाति को केंद्र में रखकर उसके संघर्ष और उसकी अनूठी संस्कृति को इतिहास, एन्थ्रोपोलॉजी (मानव विज्ञान) तथा जादुई यथार्थवाद के संतुलित, कलात्मक मिश्रण से आख्यान का रूप दिया गया है।

विनोद कुमार कृत 'रेडजॉन' उपन्यास झारखंड के आदिवासी क्षेत्रों में बढ़ते नक्सलवाद और जनता की समस्या को उठाता है। उपन्यास के माध्यम से लेखक ने यह स्पष्ट करने का प्रयास किया है कि आदिवासी व्यक्ति जानबूझकर नक्सली नहीं बनता। आदिवासी को देश की सामाजिक, राजनीतिक एवं आर्थिक व्यवस्था हथियार उठाने पर विवश करती है। आदिवासियों की इन्हीं समस्याओं को विनोद कुमार बेहद सहज ढंग से उठाते हैं। दोहरी राजनीति के भंवर जाल में फंसे आदिवासी की स्थिति को लेखक ने अपनी आंखों से देखा है, जिसको उन्होंने अपने उपन्यास में चित्रित करने का प्रयास किया है। दुर्गा जैसी न जाने कितनी आदिवासी महिलाओं के सामने इस तरह की स्थिति आती है जो व्यवस्था और समाज के दुराचार से परेशान होकर नक्सली संगठनों से जुड़ जाती है। उपन्यास पूर्ण रूप से इसी यथार्थ को अभिव्यक्त करता है।

निष्कर्ष

यह बात हम सभी जानते हैं कि भारत की केंद्रीय सरकार द्वारा शुरू की गई आर्थिक उदारीकरण की नीति ने 'बाजारवाद' का रास्ता खोला। मुक्त व्यापार और मुक्त बाजार के नाम पर मुनाफे और लूट का खेल आदिवासियों के जल, जंगल और जमीन से भी आगे जाकर उनके जीवन को दांव पर लगाकर खेला जा रहा है। आंकड़े गवाह हैं कि पिछले एक दशक में अकेले झारखंड राज्य से 10 लाख से अधिक आदिवासी विस्थापित हो चुके हैं। इनमें से अधिकांश लोग दिल्ली जैसे महानगरों में घरेलू नौकर या दिहाड़ी पर काम करते हैं। विडंबना यह है कि सरकार के अनुसार राष्ट्रीय राजधानी क्षेत्र दिल्ली में मूलतः कोई आदिवासी नहीं है, इसलिए यहां की शिक्षण संस्थाओं और नौकरियों में आदिवासियों के लिए आरक्षण या कोई विशेष प्रावधान नहीं है। विकास के नाम पर अपने पैतृक क्षेत्रों से बेदखल किए गए ये लोग जाएं तो कहां जाएं? यह दुखद है कि जब संयुक्त राष्ट्र संघ ने वर्ष 1993 को 'देशज लोगों का अंतर्राष्ट्रीय वर्ष' के रूप में मनाने का फैसला किया तो भारत सरकार की प्रतिक्रिया थी- 'संयुक्त राष्ट्र द्वारा परिभाषित इंडिजिनस लोग भारतीय आदिवासी या अनुसूचित जनजातियां नहीं हैं, बल्कि भारत के सभी लोग देशज लोग हैं और न यहां के आदिवासी या अनुसूचित जनजाति किसी प्रकार के सामाजिक, राजनीतिक या आर्थिक पक्षपात के शिकार हो रहे हैं। दरअसल पूरा मसला आदिवासियों को आत्मनिर्णय का अधिकार देने का था, जिसकी मांग आदिवासी साहित्य में भी देखी जा सकती है। अपने जल-जंगल-जमीन से बेदखल महानगरों में शोषित-उपेक्षित आदिवासी किस आधार पर इसे अपना देश कहें? बाजार और सत्ता के गठजोड़ ने आदिवासियों के सामने अस्तित्व की चुनौती खड़ी कर दी है। जो लोग आदिवासी इलाकों में बच गए, वे सरकार और उग्र वामपंथ की दोहरी हिंसा में फंसे हैं। अन्यत्र बसे आदिवासियों की स्थिति बिना जड़ के पेड़ जैसी हो गई है। नदियों, पहाड़ों, जंगलों, आदिवासी पड़ोस के बिना उनकी भाषा और संस्कृति तथा उससे निर्मित होने वाली पहचान ही कहीं खोती जा रही है। आदिवासी अस्मिता और अस्तित्व का इतना गहरा संकट इससे पहले नहीं पैदा हुआ। जब सवाल अस्तित्व का हो तो उसका प्रतिरोध भी स्वाभाविक है। सामाजिक व राजनीतिक प्रतिरोध के अलावा कला और साहित्य द्वारा भी इसका प्रतिरोध किया गया और उसी से समकालीन आदिवासी साहित्य अस्तित्व में आया।

संक्षेप में हम कह सकते हैं कि समकालीन हिन्दी उपन्यासों में चित्रित आदिवासी की सामाजिक स्थिति अत्यन्त दयनीय और करुण है। स्पष्ट है कि आदिवासी

अन्याय-अत्याचार से ग्रस्त है। इस समाज में ठेकेदार, महाजन, पुलिस, वन रक्षकों आदि द्वारा आदिवासी समाज शोषण से ग्रस्त हो रहा है। आदिवासी सामाजिक जीवन-संघर्ष की अनेक छवियाँ जीवंतता के साथ इन उपन्यासों में अंकित हुई हैं। साथ ही रोजगार की तलाश या विकास के नाम पर घटते जंगलों के कारण पलायन की स्थिति में अथवा गैर-आदिवासियों द्वारा दिखाये गये सब्जबाग के झांसे में फँसकर दैनिक एवं आर्थिक शोषण झेलने को विवश होना पड़ता है। इक्कीसवीं सदी के ये सभी उपन्यास बेहद महत्त्वपूर्ण हैं। क्योंकि ये उपन्यास केवल आदिवासियों के सांस्कृतिक, प्राकृतिक जीवन को व्यक्त नहीं करते, अपितु वैश्वीकरण, बाजारीकरण के युग में आदिवासियों के सामने आ रही नवनवीन समस्याओं को सामने रखते हैं और उनसे कैसे निपटा जा सकता है का सुझाव भी देते हैं तथा आदिवासी की विपन्नता, विस्थापन, शोषण, बीमारियाँ, अन्याय-अत्याचार, विषमता, पराधीनता, अभाव, भूख, अमानवीय जीवन, धर्मांतरण, प्राकृतिक हास आदि को व्यक्त करते हैं। साथ ही इन समस्याओं से उभरकर निकलने के लिए संघर्ष करते आदिवासियों की जद्दोजेहद को भी व्यक्त करते हैं।

संदर्भ सूची

1. पुष्पा, मैत्रेयी; अल्मा कबूतरी; राजकमल प्रकाशन प्रा. लि., 1- बी, नेताजी सुभाष मार्ग, दरियागंज, नई दिल्ली-110002 ; सं. 2000 ; पृ. कबर पेज
2. सं. लुगुन, अनुज; किशन कालजयी श्रृंखला सं.; आदिवासी अस्मिता प्रभुत्व और प्रतिरोध; अनन्य प्रकाशन, दिल्ली-110032; सं. 2016; पृ. 86
3. सं. अहमद, डॉ. एम. फिरोज; वाङ्मय त्रैमासिक पत्रिका, आदिवासी विशेषांक-II; अलीगढ़-202002, अंक जुलाई-2013; पृ. 11
4. सं. अहमद, डॉ. एम. फिरोज; वाङ्मय त्रैमासिक पत्रिका, आदिवासी विशेषांक-II; अलीगढ़-202002, अंक जुलाई-2013; पृ. 12
5. वही, पृ. 12
6. वही, पृ. 12
7. पुष्पा, मैत्रेयी; अल्मा कबूतरी; राजकमल प्रकाशन प्रा. लि., 1- बी, नेताजी सुभाष मार्ग, दरियागंज, नई दिल्ली-110002 ; सं. 2000; पृ. भूमिका
8. सं. अहमद, डॉ. एम. फिरोज; वाङ्मय त्रैमासिक पत्रिका, आदिवासी विशेषांक-II; अलीगढ़-202002, अंक जुलाई-2013; पृ. 22
9. तेजिंदर; काला पादरी; साहित्य भंडार, जीरो रोड, इलाहबाद, सं. 20116; पृ. 21
10. प्रो. चमनलाल ; दलित साहित्य : एक मूल्यांकन ; पृ. 166
11. सिंह, राकेश कुमार; पठार पर कोहरा; भारतीय ज्ञानपीठ, लोदी रोड, नई दिल्ली; सं. 2005; पृ. 01
12. वही, पृ. 137
13. मोरवाल, भगवन; रेत; राजकमल प्रकाशन, दरियागंज, नई दिल्ली; सं. 2008; पृ. 51
14. मीणा, हरिराम ; धूणी तपे तीर; पृ. भूमिका
15. रणेंद्र; ग्लोबल गाँव के देवता; भारतीय ज्ञानपीठ, 18 इंस्टिट्यूटशनल एरिया लोदी रोड, नई दिल्ली; सं. 2010; पृ. 87